द्वितीय अध्याय
आलोचना के प्रकार एवं स्वरूप
द्वितीय अध्याय
आलोचना के प्रकार एवं स्वरूप

आलोचना के सर्वमान्य रूप के सम्बन्ध में निर्णय करना कठिन है। आलोचकों ने साहित्यिक कृति की परख के लिए अनेक माप दण्ड निर्धारित किये हैं, क्योंकि कृतियाँ जीवन की विविध जटिलताओं और गुणों से भरी पड़ी है जिस प्रकार मानव को समझने के लिए कृतियाँ बहुआयामी हो गयी हैं, उसी प्रकार उन कृतियों की परख के लिए आलोचना की कसौटियाँ भी भिन्न-भिन्न हो गयीं। "मनुष्य को समझना और उसकी सम्पूर्ण जटिलता में चित्रित करना अत्यन्त कठिन कार्य है। यह मनुष्य जड़ और चेतन तत्वों का अद्वैत सम्मिश्रण है। प्रकृति के साथ निरंतर संघर्ष करता हुआ वह आज जिस स्थिति में आ गया है, उसके विषय में स्पष्टतः कुछ भी घोषित नहीं किया जा सकता। वह चेतना के अनेक स्तरों से युक्त है। ऐसे मनुष्य के जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करने वाली काव्य कृति स्वयं अपने में उलझी हुई एक अवृत्त रहस्यमयी पहली बन गयी है। काव्य-कृतियों के इस जटिल एवं रहस्यमयी सौंदर्य की व्याख्या प्रस्तुत करने के प्रयत्न में आलोचना का बहुआयामी होना
सहज सम्भाव्य है।" ¹

इस प्रकार मानव जीवन के विभिन्न पक्षों के उद्घाटन के लिए जिस प्रकार साहित्यिक कृतियों के रूपों में भिन्नता है, उसी प्रकार आलोचना की पद्धतियों में भी अनेक-रूपता है।

(क)

सैद्धांतिक आलोचना:-

सैद्धांतिक आलोचना में समीक्षक काव्य के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या करता है। इस समीक्षा में काव्य के विभिन्न अंगों, काव्य का प्रयोजन, उसके हेतु, साहित्य मूल्यांकन, समालोचना के विभिन्न प्रकार आदि का अध्ययन किया जाता है। इसलिए हडसन ने कहा है कि सैद्धांतिक समीक्षक प्रकारों के विभिन्न को जानना है उसके गुण भेद को वह नहीं जानता। अन्यत्र हडसन ने कहा है कि आलोचक का काम केवल यही नहीं है कि वह औषधियों को बताये अपितु वह उन सिद्धांतों और नियमों की तलाश करता है, जिनके आधार पर कृति का निर्माण हुआ है। अरस्तू, कालरिज, एडिसन, वर्डसवर्थ, रिचर्ड आदि पारिचायत तथा रामचन्द्र शुक्ल (रसमीमांसा), रघुवरदास (साहित्यालोचन), गुलाबराय (सिद्धांत और अध्ययन), गोविन्द त्रिपुराणश (शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत) आदि इसी वर्ग के समीक्षक हैं।
व्यावहारिक समीक्षा

व्यावहारिक आलोचना किसी सिद्धान्त—विशेष पर आधारित नहीं रहती। आलोचना का उद्देश्य किसी भी काव्यकृति के समस्त सौन्दर्य और विशेषताओं को स्पष्ट कर अनुभूतिगम्य बनाना है। इस दृष्टि से आलोचना के अनेक स्वरूप विकसित हुए, पर कोई एक इस उद्देश्य की पूर्णता पूर्ति न कर सका। अतएव व्यावहारिक समीक्षा की आवश्यकता का अनुभव हुआ।"  

अतएव व्यावहारिक समीक्षा रचनाकार के प्रत्येक दृष्टिकोण, रचना की समस्त विशेषताओं, उसके विभिन्न औचित्यों और परिस्थितियों का अध्ययन करती है। यदि ऐसा न होता तो रचनाकार तथा रचना का एकांगी अध्ययन होता जो इन दोनों के प्रति अन्याय होता।

व्यावहारिक समीक्षा के सिद्धान्तों या नियमों के अनुसन्धान की पूर्वगामिनी, आलोचना की एक सामान्य प्रक्रिया है जो अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक और विद्वान श्री आई 0 ए0 रिचर्डस हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'प्रैक्टिकल क्रिटिशिज्म' में इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया है और निष्कर्षवर्तमान अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके ये निष्कर्ष अंग्रेजी काव्य के आधार हैं। यद्यपि यह उनका अपना दृष्टिकोण है और अन्य अनेक आलोचकों ने इसे पूर्ण या महत्वपूर्ण स्तरीकार नहीं किया परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं की जो अपने सन्योग के द्वारा इस दिशा में अनेक सुझाव प्रस्तुत करते हैं। उन्हीं सुझावों के
आधार पर इस विषय में भारतीय काव्य को ध्यान में रखकर कुछ विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न यहाँ किया गया है।

रिचर्ड महोदय का उद्देश्य केवल साहित्यिक समीक्षा का एक प्रयोग करना ही नहीं था वरन् संस्कृति की समकालीन स्थिति और शिक्षा पद्धति का एक नवीन मार्ग भी स्पष्ट करना था।

इसके अतिरिक्त स्वयं हम काव्य के सम्बन्ध में किस प्रकार सोचते और विचारते हैं यह ज्ञान भी अपने-अपने इस प्रकार के प्रयोगों द्वारा हो जाता है। इस प्रकार आत्मविश्लेषण और शिक्षा पद्धति के साथ-साथ इस प्रयोग का सबसे बड़ा महत्व सांस्कृतिक और ऐतिहासिक है। यदि इस प्रकार के व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोग चलते रहे और विभिन्न देशों में एक साथ चलते तो निष्ठुरत ही हमें इनके द्वारा संस्कृति और साहित्यिक अभिरुचि का तुलनात्मक यथार्थ ज्ञान हो सकता है। इस दृष्टि से समस्त इसका बहुत बड़ा महत्व है।

यहाँ पर हमारे सामने प्रश्न उठता है कि इस प्रकार सांस्कृतिक या शिक्षा-सम्बन्धी ज्ञान के लिए किसी और विषय को चुना जा सकता था। काव्य को ही क्यों चुना गया और उसका ही चुना जाना क्या कुछ अधिक आवश्यक है। हाँ, काव्य इस प्रकार की समीक्षा को प्राप्त करने के लिए सर्वोपयुक्त विषय हो अन्य अनेक
विषय जैसे गणित, विज्ञान, व्यापार, कानून, उद्योग या अन्य शास्त्रीय विषयों की ओर सभी प्रकार के व्यक्तियों को रुचि नहीं होती। रुचि और बुद्धि के व्यक्ति ही इन विषयों में प्रवृत्त हो पाते हैं। परन्तु धर्म, दर्शन, अध्यात्म, नीति, आचार, सौन्दर्यशास्त्र आदि की ओर एक साथ बहुतों की रुचि और प्रवृत्ति होती है। किन्तु इनका जो शास्त्रीय स्वरूप होता उसकी ओर सभी का रुझान नहीं होता। वह भी विशिष्ट ज्ञान और रुचि का विषय हो जाता है। काव्य का सम्बन्ध इन सब विषयों से होता है। आतएक काव्य के माध्यम से प्रस्तुत इन विषयों में व्यापक जन-समुदाय की सहज अभिरुचि होना एक स्वाभाविक और दार्शनिक बात है। यह एक तथ्य है। अतः व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोग के लिए काव्य को चुनना ही अधिक उपयुक्त है।

उपयुक्त उद्देश्यों के स्पष्टीकरण के साथ एक शंका यह उठ सकती है कि इस प्रकार के प्रयोगों का उद्देश्य सांस्कृतिक या शिक्षा सम्बन्धी है, तो ऐसी समीक्षा से साहित्य का व्या सम्बन्ध है और इस प्रकार साहित्यिक समीक्षा या आलोचना के क्षेत्र में इसकी चर्चा क्यों होनी चाहिए? इस शंका का उत्तर हमें काव्य को इस उद्देश्य के लिए चुने जाने के कारण में प्राप्त हो जाता है। यद्यपि “व्यावहारिक समीक्षा” के लेखक का उद्देश्य साहित्यिक समीक्षा न हो: फिर भी क्योंकि काव्य को ही इस प्रकार के प्रयोगों के लिए सर्वाधिक समझा गया है। अतः इसका सम्बन्ध निश्चयत: साहित्यिक
समीक्षा से हो जाता है। इस प्रकार काव्य–समीक्षा का यह व्यावहारिक रूप न केवल साहित्यिक अभिरुचि के स्तर का एक लेखा प्रस्तुत करता है वरन् हम मानव– अनुभूति और विचारों का एक स्वभाविक इतिहास बन जाता है।

व्यावहारिक समीक्षा–सम्बन्धी प्रयोगों से यह बाता स्पष्ट होती है कि भावों या विचारों का सहज और सरल प्रकाशन कितना कठिन है, साथ ही साथ यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि समीक्षा का प्रयास, भावों और विचारों के आदान– प्रदान को सहजतम रीति निकालना है। समीक्षा सम्बन्धी अनेक सिद्धांत इसके परिणाम हैं, परन्तु वास्तविकता तो कुछ इस प्रकार की ही है। वे सिद्धांत या नियम बुद्धिमानों के लिए बड़े सहायक सिद्ध होते हैं परन्तु अन्यों के लिए स्वयं एक भ्रम और उलझान डालने वाली वस्तु बन जाते हैं।

मनुष्य की विविध अभिरुचियों एवं विभिन्न मनोवृत्तियों के परिणाम स्वरूप तथा विभिन्न युगों की जीवन शैली और आदर्शों की परिवर्तनशीलता और विकास के कारण कोई भी नियम या सिद्धांत स्वरूपित रूप से उपयोगी सिद्ध नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त सिद्धांत– विशेष का आयार समीक्षा को अपनी सीमा में बांधने वाला भी होता है और इसके स्वचालन विकास में बाधा पहुंचाता है, अतः उसके स्वचालन और विकासशील रूप को ही प्रेरणा देने का प्रयत्न
श्रेष्ठकर है। इस प्रकार व्यावहारिक समीक्षा के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। इनमें से कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं:—

सबसे प्रथम कठिनाई है कविता के वास्तविक अर्थ ग्रहण की। किसी भी छन्द का यथार्थ तात्पर्य ग्रहण करना अत्यावश्यक है। क्योंकि अन्य बातें इसी पर निर्भर करती हैं। यह बात आश्चर्यकारी है, परन्तु व्यावहारिक समीक्षा यथार्थ स्वरूप जो निष्कर्ष निकला वह यही था कि अधिकांश व्यक्ति कविता का अर्थ, सहज तात्पर्य नहीं समझ पाते और इसके परिणाम स्वरूप उसमें व्यक्त भावानुभूति, ध्वनि और उद्देश्य को समझने में भी भ्रम कर बैठते हैं। यह भाव सरल, जटिल और किल्लं सभी प्रकार की कविताओं के लिए सत्य बैठता है। किसी भी समीक्षा के लिए काव्य का अर्थ ज्ञान तो प्रारम्भिक आवश्यकता है।

दूसरी इसी के समक्ष कठिनाई है। कविता के ऐंतरिक प्रभाव के ग्रहण की। यह तो निर्विवाद सत्य है कि कविता में शब्द क्रम होता है। इस प्रभाव को ग्रहण करने के लिए हमारी श्रवण-शक्ति की योग्यता आवश्यक है। लयात्मक प्रभाव को ग्रहण कर सकने वाले व्यक्तियों पर जो प्रभाव किसी छन्द का पड़ सकता है वह अन्यों पर नहीं। हम कवि की तद्भवकान्त प्रतिभा और कविता के इस गुण की विशेषता नहीं जान सकते यदि हम में यह लयात्मक संस्कार न होते।
इस नृत्य का परिहार किन्ही अंशों में कवि द्वारा किसी अन्य दक्ष्यक्ति के द्वारा लयाल्मक ढंग से पढ़कर किया जा सकता है, परंतु उसके भी समग्र प्रभाव का आनन्द लेने के लिए पाठक को इस दृष्टि से संस्कृत होना आवश्यक है।

ऐन्तिक प्रभाव का दूसरा रूप है दृश्य-दर्शन। इसका सम्बन्ध हमारी प्रत्यक्ष करने की शक्ति से है। कवि के भीतर प्रत्यक्षीकरण की शक्ति असाधारण रूप से विद्यमान होती है और वह प्रत्यक्ष्कृत वस्तुओं का वर्णन करता है। परंतु प्रत्यक्ष करने का या दृश्य-दर्शन की शक्ति सबसे वरार या एक सी नहीं होती। अतः इसके परिणाम स्वरूप कविता में प्रस्तुत दृश्यों को हदयगम करने या उसके प्रभाव-ग्रहण करने के क्षेत्र में अन्तर हो जाना स्वाभाविक है। कभी हम कवि द्वारा उदिदश प्रभाव से अधिक भाव ग्रहण कर लेते हैं और कभी उस तक पहुँच नहीं पाते। इस प्रकार विभिन्न कोटि के व्यक्तियों द्वारा समीक्षाओं में भिन्नता होना स्वाभाविक है। इसके साथ ही साथ एक बात और है। हमारे स्मृतिपतल पर अनेक पूर्वर्ती घटनाओं और दृश्यों के चित्र अंकित रहते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम कोई पंक्ति पढ़कर अपनी समृति के संस्कृतों के कारण, अपने अनुभूत किन्तु विषय से पूर्ण तथा अप्रासंगिक दृश्यों और भावों में मग्न हो जाते हैं जैसे कविवर बिहारी ने कहा है — “मन है जात अजों वहे वा जमुना के तीर” वैसे ही हम अपने प्रिय कल्पना और
सुधि से ओत—प्रोत होकर और विजय से विचित्रन हो जाते हैं। यह भय

योग्यता या संस्कार की तृणी के कारण नहीं, वरन् एक स्वाभाविक सी बात है, परन्तु इसमें हम कविता की पंक्तियों का उदिद्धय या वांछित प्रभाव ग्रहण नहीं कर सकते।

इसके अतिरिक्त कभी—कभी ऐसा भी होता है कि संयोग से कवि उस भावना को प्रकट करता है जो हमारी भावना भी है। ऐसी दशा में हम उस भावना से इतने अभिभूत हो जाते हैं कि वह कवि की न रह कर अपनी हो जाती है, के साथ पक्षपात करेंगे या उसे कोई श्रेय न देंगे।

डॉ हरिश्चंद्र भिक्षु ने समीक्षा के क्षेत्र में भावुकता को बहुत बड़ी कठिनाई माना है। "इस भावना से वशीमूत होकर निश्चय ही या तो हम कुछ ऐसी अवधारणाएं देखने लगते हैं जो उसमें है नहीं और या हम प्रसंग से पूर्णतया बहक जाते हैं। यहाँ पर हमें यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि भावुक और भावक, सत्यत्य या समीक्षक में अन्तर है। वास्तविक गुणों का समृद्धि ग्रहण और प्रशस्ता कर भावक या सत्यत्य का काम है जबकि भावुक अवस्थातिक या काल्पनिक गुणों की प्रशस्ता करता है। उसकी अभिव्यक्ति सदैव समीक्षा नहीं कही जा सकती।
इसके विपरीत स्थिति है अरसिकता की। इसमें पाठक या समीक्षक गुणों को देखते हुए और प्रभावित होते हुए भी उदारता से उनकी प्रशंसा नहीं करना चाहता। यह दशा काव्य—गुणों और कवि के उत्साह पर पानी फेंकने वाली होती है। इसलिए कहा गया है “अरसिकेषु कवित्व निवेदनं, शिरसि मा लिख मा लिख मा।” अतः समीक्षक में इस अरसिकता की स्थिति से सावधान रहने की आवश्यकता है। एक ओर बहुत बड़ी कठिनाई सैद्धांतिक आग्रह की है। यह सैद्धांतिक आग्रह दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम इस रूप में की कविता में सत्य या जीवन के सम्बन्ध में क्या विचार प्रकट किये गये हैं। यदि पाठक या समीक्षक किसी विशेष सम्प्रदाय, विचारधारा या सिद्धांत का व्यक्त है तो उसका काव्य खण्ड का मूल्यांकन उसके आधार पर करेगा। उसको होने पर उसकी प्रशंसा न होने पर निन्दा की जा सकती है। अन्य सिद्धांत या विचारधारा के कारण उसे निर्देश बताया जा सकता है। समीक्षक के सामने किसी विशिष्ट सिद्धांत या विचारधारा के कारण है। यह उसके अतिरिक्त किसी अन्य बात पर? यदि विचारधारा इतने बात की इलाज महत्व देती है, तो वह कविता की शैली या शिल्प हो सकता है। यहाँ भी सैद्धांतिक आग्रह का प्रश्न सामने आ उपस्थित होता है। शिल्प और शैली से सम्बन्ध अनेक सिद्धांत है। हम उसमें से किसी एक का आग्रह उस कविता में कर सकते हैं। यदि उनमें बड़ी शिल्प—विधि या शैली अपनायी गयी है, तो वह हमें अच्छी लगती है। और यदि नहीं
अपनाई गयी है तो हमें वह दोषपूर्ण लगती है। भारतीय काव्य-शिल्प विधि के अनेक रूप अलंकार वक्रोकित रीति ध्वनि आदि है। यदि आज का काव्य हम उनमें से किसी कसौटी पर कसने लगें तो आवश्यक नहीं कि वह उसमें खरा ही उतरे। आज का काव्य आज के जीवन के अनुरूप और उससे सम्बन्ध रखता है। अतः इस प्रकार किसी शिल्प-सिद्धान्त का आग्रह भी समीक्षा के लिए उचित नहीं है।
इसके अतिरिक्त शिल्प सम्बन्धी बातें तो माध्यम मात्र हैं। अतः उसे सावधान रूप में ही देखना आवश्यक है साथ तो कुछ और है। वह उसके अन्तर्गत व्यक्त विचार, भाव, जीवन-आदर्श, संस्कृति आदि कुछ हो सकता है। समीक्षक को देखना यह है कि वह उद्देश्य किस प्रभाव के साथ अभिव्यक्ति पा सका है। इसमें कवि की सफलता और कविता की उत्कृष्टता निहित रहती हैं।

उक्त कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ हैं जो व्यावहारिक समीक्षकों के क्षेत्र में उपस्थित होती हैं। इन बातों को सामने रखने पर देखते हैं कि मानव अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में चार बातें सामने आती है, जिन्हें हम अभिव्यक्ति के चार पक्ष कह सकते हैं। ये हैं—

(1) अर्थ, (2) भावानुभूति (3) ध्वनि और (4) उद्देश्य।

किसी भी समीक्षक के लिए इन चारों पक्षों का समुचित ज्ञान अपेक्षित है। विशेष रूप से अभिव्यक्तियों में इन पक्षों की कमी या अधिकता देखी जा सकती हैं "एक वैज्ञानिक दृष्टि के लिए
अर्थ ही सर्वोपरि महत्त्व का है। उसका ध्वनि और भावनमूल्य से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। हाँ, उद्देश्य अवश्य उसके अर्थ का पथ प्रदर्शन करता है। परन्तु एक साहित्य के लिए भावनमूल्य का पक्ष महत्वपूर्ण है। जहाँ पर वह अपने वक्तव्य का प्रभाव डालना चाहता है।”

भाव के विशिष्ट प्रभाव के लिए ध्वनि का अपना स्थान है विशेष रूप से कविता की समर्पणीय सम्पन्नता के लिए ध्वनि का सहारा आवश्यक है। उपदेशात्मक और सैद्धांतिक की प्रकृति के अनुसार इन चार पक्षों के स्वरुपों का प्राधान्य या उनकी उपेक्षा रहती है।

इन पक्षों का समबन्ध काव्य के तत्वों से भी रहता है काव्य भी अभिव्यक्ति का एक विशेष प्रकार है। यह कहा जाय कि काव्य एक सजीव और पूर्ण अभिव्यक्ति है तो असम्भवी न होगा। इस अभिव्यक्ति में शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना और बुद्धि–तत्त्वों का सामजिक पूर्ण समन्वय रहता है “काव्य के अतिरिक्त अन्य उक्तियों में समस्त तत्त्व विद्यमान नहीं रहते वैज्ञानिक उक्तियों में बुद्धि तत्त्वों और अर्थ की प्रधानता रहती हैं। दार्शनिक उक्तियों में कभी–कभी कल्पना तत्त्व का भी समावेश हो जाता है। शब्द तत्त्व केवल अर्थतत्त्व का वाहक हो कर रह जाता है। उसका अपना पूर्णस्वरूप प्रकट नहीं हो पाता है। ध्वनि समबन्धी विशेषता प्रस्फुटित नहीं हो पाती है।”

अतः वह काव्य या उसके समक्ष ही कोई उक्ति हैं। जिसमें इन पाँचों तत्त्वों का समुचित एवं सजीव प्रभावपूर्ण समिश्रण देखा
जाता है। इसलिए उक्तियों में सबसे महत्वपूर्ण काव्योंकि माती गयी है। पूर्वांक चार पक्षों का समाहार भी इन पाँचों तत्त्वों में हो जाता है।

अन्य उक्तियों के परिपेक्ष में इन तत्त्वों के स्थान और महत्त्व पर दृष्टिपात किया जाय तो उनमें ये तत्त्व अपने सामान्य, नगन या नीरस रूप में रहते हैं, परन्तु काव्योंकि में ये तत्त्व दूसिमय, अलंकृत एवं सरस रूप में दिखाई पड़ता है। यदि हम शब्द तत्त्व को देखते हैं तो काव्य में वह अपने अर्थ का वाहक मात्र नहीं है, वरन् उसका अपना निजी आकर्षण है, सबसे पहले वही हमारे ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है। “संगीतात्मक ध्वनि, काकुंककीक्षक्षक और भावानुकूल गति या लय का प्रभाव और भाव—संचार करने की क्षमता शब्द—तत्त्व में ही प्रकट हो जाती है। उसका स्वरूप न केवल अर्थ को प्रकट करने में सहायक होता है, वरन् वह अन्य तत्त्वों को भी चमका देता है।”

इसी प्रकार अर्थ तत्त्व है, काव्य में अर्थ तत्त्व शब्द के बहुकार्य से पूर्ण होने के कारण अलंकृत रूप धारण करता है और अर्थ व्यंजना का शामावेश हो जाता है। वह अर्थ, कल्पना अनुभूति को सजग करता चलता है। व्यंग्यार्थ काव्य में उद्धिष्ठ और प्रधान हो जाता है, अतः शब्दों का सामान्य अर्थों से काम नहीं चलता जिसको हम तर्क की कसोटी पर अनगिन कह सकते हैं।

कल्पना और भाव—तत्त्व तो काव्य में ही प्रधानतत्व रहते हैं। काव्य में कल्पना और अनुभूति का माध्यम होने से अर्थ—तत्त्व भी
प्रभावित होता है। अलंकारिक अभिव्यक्ति जैसी एक रूपक, उत्तेजना,
अन्योक्ति, प्रतीक, उपमा, अतिशयोक्ति आदि में पायी जाती है,
कल्पना प्ररूपत होती है। अतः कल्पना और भावानुभूति को जाग्रत करने वाले काव्य के शब्द-विधान में काव्य रचना या क्रम का व्याकरणिक महत्त्व नहीं रहता। समीक्षक को अर्थ-प्रहण करने के लिए अपने अनुभव या सहज संस्कारों का सहारा लेना पड़ता है।
प्रसंग, परम्परा और प्रयोग के आधार पर हम काव्यगत अभिव्यक्ति के सीमाबंद का मूल्यांकन कर सकते हैं। इसके बिना नहीं कोई तर्क संगत अर्थ ही महत्त्व का नहीं होता। शब्द की गति, ध्वनि और लोच से कल्पना के समुख प्रस्तुत दृश्यावली से और अनुभूति पर पड़े प्रभाव से सामूहिक रूप में जो हमारी बुद्धि ग्रहण करती है अथवा जो वैचारिक संस्कार बनते हैं वही महत्त्वपूर्ण होते हैं। गोस्वामी तुलसी दास जी ने काव्य रचना के व्यापार को स्पष्ट करते हुए लिखा है :-

‘हदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहे सुजाना।।
जो बरसें वर वारि विचारु। होइ विचित मुक्तमानिचारु।।’

अनुभूति में बृही कल्पना या प्रतिभा जब किसी सुन्दर विचार का प्रवेश वाणी की कृपा से होता है, तब कविता का जन्म होता है। इस प्रकार काव्यगत अर्थ-सामान्य अर्थ से सिन्न है उनमें ध्वनि-भाव और कल्पना की विशेषताओं का समावेश सहज में ही रहता है। पूर्वोक्त पक्षों या तत्वों से किसी एक या अनेक को लेकर काव्य की अभिव्यक्ति
या शिल्प—सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। परन्तु वे सत्य होते हुए भी, सार्वकालिक काव्य की समीक्षा के उपयुक्त नहीं हैं। काव्य की विशेषता उसकी नवीनता में है। युग की चेतना और अनुभूति को सांजोकर कबी जो नूतन अभिव्यक्ति करता है, उसमें उसका अनुभव जीवन—दर्शन छिपा रहता है। मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास की नूतन मंजिलें जिस प्रकार ठीक पूर्ववर्ती या प्राचीन स्वरूप सै नहीं हो सकती है उसी प्रकार उसकी समीक्षा के लिए पूर्ववर्ती या प्राचीन सिद्धान्त पूर्णतया उपयुक्त नहीं हैं। इस कारण से व्यावहारिक समीक्षा शिल्प—विधि—सम्बन्धी सिद्धान्तों के आग्रह से मुक्ति चाहती हैं। वह काव्य या उक्तियों में प्रकट धर्म, सम्राद या दर्शन—सम्बन्धी सिद्धान्तों के आग्रह से भी मुक्ति चाहती है, व्यक्ति जीवन कि नवीनतम प्रयोग, नित्य नये सत्य—सिद्धान्तों और नियमों कि खोज करते रहते हैं और प्रगतिशील जीवन को बाढ़ कर रखने में प्राचीन या पूर्ववर्ती सिद्धान्त पूर्णतया सक्षम, नहीं होते। अतः व्यावहारिक समीक्षा एक स्वतंत्र समीक्षा क्रम है।

इतना होते हुए भी अभिव्यक्ति और काव्य के मूल में विद्यमान जो तत्व है उनका प्रत्यक्षीकरण, यह समीक्षा अनिवार्य समझती हैं। किसी अभिव्यक्ति में उनका नूतन रूप किस तरह प्रकट
हुआ है, यही उसकी सबसे बड़ी खोज है | उसकी कसोटी, अभिव्यक्ति की पूर्णता से समबद्ध आदर्श है जिसका स्वरूप समीक्षक या पाठक के अध्ययन, सुरुचि, संस्कार, सहदेवता आदि की समग्रता से बनता है। उस पर कविता का मूल्यांकन उस के द्वारा प्रेषित प्रभाव के आधार पर होता है। यह प्रभाव जितना ही सामाजिक होगा, कविता की उत्कृष्टता उतनी ही व्यापक होगी।

(ग)

आत्मप्रधान आलोचना—

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आत्मप्रधान आलोचना का स्थान सर्वप्रथम हमारे समकालीन आत्मात्माओं के लिए महत्वपूर्ण है। आत्मप्रधान आलोचना में आलोचक विषय की विवेचना में इतना तत्त्वांशिक हो जाता है कि विषय वस्तु की अपेक्षा भाव सागर में स्वयं गोते लगाने लगता है। उसकी वह आलोचना, आलोचना की अपेक्षा एक साहित्यिक कृति बन जाती है। इस आलोचना के बावजूद भाव या भावुकता का महत्त्व विशेष हो जाता है।

बुद्धि पक्ष कमजोर पड़ जाता है अंगेर्जी आलोचना में प्रभावादी समीक्षा को (आत्मप्रधान समीक्षा) विशेष महत्त्व प्राप्त है। वहाँ पीटर इस आलोचना पद्धति का विशेष समर्थक रहा है। हिंदी साहित्य में पदम सिंह शर्मा एवं आधुनिक युग में जनस्वरूप को 'आत्मप्रधान समीक्षक चर्चा जा सकता है। इस आलोचना पद्धति की प्रथम विशेषता यह है कि
“To have sent Sensation in the presence of the work of art is to express them. That is the function of a criticism for an impressionist critic.” अर्थात किसी कृति के देखकर जिनभावों और प्रभावों की अनुभूति होती है उन्हें उसी तरह प्रकट कर देना प्रभाववादी समीक्षक का कार्य होता है। प्रभाववादी समीक्षा प्रत्येक देश के साहित्य में खोजी जा सकती है। क्योंकि मनुष्य हमदर्द पर पड़े प्रभावों से प्रभावित होता है। हिन्दी साहित्य के भारतेन्दु एवं द्विवेदी युग में इस शैली का बोल—बाला था। श्री पदमसिंह शर्मा कृत्रिम बिहारी की आलोचना इसी कोटि की है। वे लिखते हैं—“बिहारी सतसई के दोहे तो शक्कर की रोटी हैं जिस्तर से लोड़ो उधर से ही मीठे हैं। इसी प्रकार सूर की प्रशंसा में रचित यह दोहा भी इस शैली का उदाहरण है—
किध कूर को सर लगयो, किध कूर को पीर।
किध कूर को पढ लगयो, वेध्यो सकल शरीर।।

आलोचक रुचि का महत्व भी इस पद्धति में विशेष रहता है। इस प्रभाववादी समीक्षा में आलोचक की रुचि क्रियमाण रहती है। इस कोटि के आलोचक को रुचि जितनी ही विश्वरुचि के अनुकूल होती है आलोचना उतनी ही सही होगी। यदि आलोचक की रुचि वैयक्तिक विचारों से विकृत है तो आलोचना भी दृष्टि होगी।

निष्कर्ष यह है कि—

(1) इस आलोचना में आलोचक का दृष्टिकोण प्रधान होता है, अतः यह विषयी प्रधान आलोचना होती है।

(2) इस में नियमों की अपेक्षा स्वच्छन्दता का सहारा लिया जाता है।

(3) इस में भावों की अपेक्षा वाणी का विलास ज्यादा रहता है।

(4) इस में एक पक्षीय निन्दा और प्रशंसा विशेष होती है।

(घ)

निर्णयात्मक आलोचना

इस कोटि की समीक्षा में किसी कृति का मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता है। शास्त्रीय नियमानुसार परीक्षण करता हुआ समीक्षक
अपनी उद्भावनाओं तथा अध्ययन का भी समावेश करता है, इस
tरह व्यक्तिगत रूचि नैतिक मूल्य, साहित्यिक मूल्य तथा मानव मूल्य
निर्णयात्मक समीक्षा के आधार बनते हैं। रिचर्डस के अनुसार सही
निष्पादन देना आज भी प्रयत्न साध्य है। इस प्रकार की समीक्षा लिखने
वाले की मनोवृत्ति में संतुलन और व्यापक अध्ययन होना अनिवार्य है।
तुलसी सूर और जायसी के मूल्यांकन में शुक्ल जी ने निर्णयात्मक
समीक्षा का आलांक लिया था। हैसन ने निर्णयात्मक आलोचना को
विशेष महत्वपूर्ण माना है। निर्णयात्मक आलोचक कुछ निश्चित नैतिक
और साहित्यिक सिद्धांतों को दृष्टि में रखकर अपना निर्णय दिया
करता है। इसमें सैद्धांतिक आलोचक किसी भी आलोचन कृति और
उसके सिद्धांतों पर विचार कर अपना निर्णय अवश्य देता है। इस
समालोचना में समालोचक का रूप न्यायाधीश का होता है। वह
निर्णय देता है। कलाकार की मौलिकता या प्रतिभा पर ध्यान न देकर
वह उस पर शास्त्रीय नियमों को लागू कर उसकी रचना की परीक्षा
करता है। उसकी जिन्दगी, 'यह काव्य कैसा होना चाहिए था' के
रूप में स्पष्ट होती है। यूरोप में कुछ समय तक अरस्तू के वायु और
nियम ईश्वरीय सिद्धांत समझे जाते रहे थे और भरत, मम्मट और
विश्वनाथ हमारी आलोचना के आधार रहे हैं। इस आलोचना को
शास्त्रीय आलोचना भी कहते हैं। परन्तु कुछ आलोचक शास्त्रीय
नियमों की उपेक्षा कर कृति के पढ़ने से अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव
के अनुसार अपना निर्णय देते हैं। इसमें आलोचक की अपनी मानवनृत्ति
प्रबल रहती है निर्णायक आलोचकों का एक दूसरा वर्ग की प्रतिभा, मौलिकता और शक्ति को पूर्णतया अनुभव कर अपना निर्णय देता है। ऐसे आलोचक उच्चकोटि के माने जाते हैं। केवल शास्त्रीय नियमों पर आधारित आलोचना को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता क्योंकि यह भले-बुरे का फैसला देने के कारण साहित्य की प्रगति रोकने वाली होती है।

"हालसन निर्णायक और व्याख्यातमक आलोचना के अंतर को स्पष्ट करता हुआ लिखता है कि—व्याख्यातमक आलोचक के सामान्य निर्णायक आलोचना करने वाला वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण और प्रदर्शन नहीं करता बल्कि उसके आदर्श स्वरूप की ओर संकेत करता है।"

"To express what not concivably ought to be"

“बेलेट के निर्णायक आलोचना को यंत्रवत् आलोचना कह कर, इसकी निन्दा की है—“निर्णायक समालोचना एक प्राकर यंत्रवत् हो जाती है क्योंकि आलोचक एक निश्चित आलोचना कसौटी पर आलोच्य—वस्तु को कसा करता है।”

संस्कृत एवं हिंदी में निर्णायत्मक आलोचना को महत्व प्राप्त रहा है। आज भी अनेक प्राचीन निर्णायत्मक उक्तियँ काव्य—शास्त्र
में मान्यता प्राप्त है जैसे—

उपमा कालिदासस्य भार्वेश्वरगौरवम्।

dदमिनः पदलालित्यम माघे सन्ति अयो गुणः । तथा—

सूर—सूर तुलसी शाशी। उदुगन केसार दास।। अदि।

हिंदी के प्रारंभिक युग में निर्णयात्मक आलोचना का प्रचार था। महावीर प्रसाद द्विवेदी और मिश्रबन्धु की आलोचनाएँ प्राय: इसी कोटि की हैं। बिहारी और देव के प्रसंग में जो वाद—विवाद था, वह भी इसी आलोचना के कारण था। आज के युग में निर्णयात्मक आलोचना की अपेक्षा व्याख्यात्मक आलोचना को विशेष महत्व दिया जाता है। पीटर ने लिखा है कि—"किसी भी साहित्य कृति पर निर्णय देते समय उस युग और व्यक्तियों को भी ध्यान में रखना चाहिए, जीन में उस कृति की सृष्टि हुयी थी।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि निर्णयात्मक आलोचना के लिए आलोचना कृति के ऐतिहासिक पक्ष का विवेचन भी आवश्यक है ऐसा होने पर ही कृतिकार के साथ न्याय होगा अन्यथा अन्याय होने की सम्भावना रहती है।

व्याख्यात्मक आलोचना—

व्याख्यात्मक आलोचना नियमों के बन्धनों से मुक्त और
साहित्यिक कृतियों की बन्धन रहित व्याख्या का एक प्रयास है।

“किसी भी कलात्मक कृति में प्रतिपाद्य विषय, प्रतिपादन और अनुभव जन्य अभिव्यक्ति से तीन बातें प्रमुख स्थान ग्रहण करती हैं। इस दृष्टि से व्याख्याता का प्रधान उद्देश्य कृति को उसके वास्तविक रूप में देखकर निरंतर रूढ़ि स्थापित करना है, जो काफी कठिन कार्य है। आलोचक को कलाकार या साहित्यिक कृति में पूर्णतः तीन होकर उसके उस अनुभव का उद्धारण करना पड़ता है जिससे उस कृति की रचना हुई। रुढ़ि आलोचक के पूर्वाग्रह, विरोध, भावुकता, सैद्धांतिक, आस्थित, रचनाकौशल सम्बन्धी पूर्व कल्पनाओं आदि बातों से व्याख्यात्मक आलोचना में बाधा पड़ती है। व्याख्यात्मक आलोचना का आश्रय ग्रहण करने वाले आलोचक को अपना निजी व्यक्तित्व पूर्ण बनाना चाहिए और निष्पक्षतापूर्वक व्याख्या करने की क्षमता रखनी चाहिए। व्याख्या वास्तव में कलाकार के भावलोक का फिर से स्पष्ट करती है और आलोचना ऐसे भाव लोक पर अपना निर्णय देती है। व्याख्या नवीन अनुभव स्वीकार करती है साथ ही कृति के साथ ऐसा प्राप्त कर आनन्द का अनुभव प्रदान करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्याख्यात्मक आलोचना का आलोचक सिद्धांतों और आदर्शों को त्याग कर एक अन्वेषक के रूप में कवि की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर अत्यन्त सहजदयता पूर्वक उसके आदर्शों उद्देश्यों तथा विशेषताओं की व्याख्या और विवेचना करता है। आज की आलोचना में व्याख्या एक विशिष्ट गुण है
व्याख्यात्मक आलोचना किसी रूढ़ि का अनुसरण न करके आलोच्य विषय की व्यापक उपयोगिता को दृष्टि में रखकर नैतिक सामाजिक, सार्वजनिक राष्ट्रीय एवं सौन्दर्यपरक मूल्यों के आधार पर की जाती थी कभी-कभी परिचयात्मक आलोचना विश्व और गम्भीर होने पर व्याख्यात्मक आलोचना का रूप ले लेती थी। इस प्रकार की आलोचना का सूत्रपात बदरीनारायण चौधरी ‘प्रेमधन’ ने ‘आनंद कादम्भिनी’ ललाश्निवासदास कृत नाटक ‘संयोगिता स्वयंवर’ की आलोचना से कर दिया था। 14 वस्तुतः व्याख्यात्मक आलोचना समस्त आलोचनाओं की मूल है। डॉ श्याम सुन्दर दास ने साहित्य लोचन में लिखा है कि —“इसी व्याख्या के बल पर हम किसी कृति के महत्त्व का निर्णय कर सकते हैं। भावामयी समालोचना करने के लिए भी प्रस्तुत रचना का स्वरूप ज्ञान वांछनीय है जो कि व्याख्या से ही प्राप्त होता है।”

व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक व्याख्यात्मक की अपेक्षा वह स्वयं अनवेषक होता है। अतः वह ईमानदारी से आलोचना करता है। व्याख्यात्मक आलोचना का प्रारम्भिक रूप संस्कृत के भाषाओं और टिप्पणियों में मिलता है। जैमिनी का ‘मीमांसा-दर्शन’ इसका प्राचीनतम उदाहरण है।

व्याख्यात्मक आलोचना पर विचार करते हुए मौल्टन ने तीन तथ्यों की ओर संकेत किया है : (1)” व्याख्यात्मक आलोचना आलोच्य वस्तुओं में किसी प्रकार का उत्तम, मध्यम भेद नहीं स्वीकार
करती। भले ही वह वर्ग भेद स्वीकार कर ले।” (2) व्याख्यात्मक आलोचना निर्णयात्मक आलोचना के समान निर्देशित नियमों के पालन में विश्वास करती है जो निर्देशित कसोटी पर करती जाती है। (3) “व्याख्यात्मक आलोचना नियमों को परिवर्तनशील मानती है। निर्णयात्मक आलोचना नियमों को स्थायी मानती है।” आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्याम सुन्दर दास, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि आलोचक इसी कोटि के आलोचक हैं।

बाबू गुलाब राय व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक रूप से उपस्थित होने वाली चार अन्य आलोचना—पद्धतियों को भी स्वीकार करते हैं—(1) ऐतिहासिक, (2) मनोवैज्ञानिक, (3) तुलनात्मक और (4) प्रगतिवादी।

ऐतिहासिक आलोचना—

ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना आलोच्य — कृति का मूल्यांकन ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक के व्यापक परिप्रेक्ष्य में करना चाहती है। वर्तमान की किसी भी गम्भीर, जटिल एवं उलझन जून्हों समस्या का कारण कभी —सुदूर अतीतवर्ती किसी महान ऐतिहासिक घटना में ढूंढा जा सकता है। इसलिए युग—विश्व के साहित्य को समझने के लिए हमें समूही ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का अनुशीलन करना होगा। हिन्दी में पण्डित विश्वनाथ मिश्र की समीक्षाएं इसी
कोटि की हैं। ऐतिहासिक आलोचक के अनुसार मानव समुदाय की चिन्तनशीलता देशकाल के अनुसार परिवर्तित होते हुए भी परम्परा से बंधी रहती है। इसी कारण निर्गुण सन्तों को समझने के लिए हमें नाथ योगियों एवं बौद्ध सिद्धों का भी अध्ययन करना पड़ता है। हिन्दी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों को हमें अपभ्रंश साहित्य से सम्बद्ध करके देखना पड़ता है। समीक्षा की यह ऐतिहासिक पद्धति व्याख्यात्मक आलोचना का ही एक पूरक अंग है। इसका उपयोग आचार्य शुक्ल ने भी ‘जायसी’ की आलोचना में किया था, किन्तु इसका आदर्श रूप उनके बाद पण्डित हजारी प्रसाद हिंदेदी की आलोचनाओं – ‘हिन्दी साहित्य की भूमिका’ (1940), कबीर (1942) एवं ‘हिन्दी साहित्य का आदि काल’ (1952), पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की ‘भूषण ग्रन्थावली’ (1953), की भूमिका का एक अच्छा उदाहरण है। “चतुर्वेदी जी में वैज्ञानिक अनुपस्कर की तटस्थता अधिक है। जब कि द्विवेदी जी तटस्थ नहीं रह पाते और उनकी संबंधितता उभर आती है।” 15 वर्तमान में हिन्दी शोध प्रबंधों में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के अध्ययन को महत्व देकर समीक्षा—पद्धति की उपयोगिता स्वीकार की जा रही है।

“साहित्य के ऐतिहासिक अवधारणा बदलती रही है। इस दृष्टि से ऐतिहासिक समीक्षा का स्वरूप भी बदलता रहा है। साहित्य, सापेक्षित दृष्टि से ही कालजयी होता है। उसकी अन्तर्वस्तु और रूप
दोनों ही देश—काल बद्द होते हैं। इस प्रकार युग—बोध को संन्वर्त्त में सााहित्य का गूल्याभाका एक प्रकार से सााहित्यित क समीक्षा की सीमा में ही आता है। किसी भी सााहित्य को शास्त्रवत्त उ मानकर उसकी देश—काल—बद्दता रेखांकित करने वाली समीक्षा ऐतिासिक ही मानी जायेगी। यह आलोचना पद्भति कवि की परिस्थितियों और परिवेश पर ही केन्द्रित होने के कारण पूरा नहीं कही जा सकती। अपितु यह एक पक्षीय है। ऐतिासिक परिप्रेक्ष्य के साथ—साथ अन्य कारकों को भी खोजना होगा। किसी भी कृति को कृतिकार विभिन्न प्रेरणाओं से प्रभावित हो कर ही सम्पन्न करता है।

तुलनात्मक आलोचना:—

तुलनात्मक आलोचना द्विवेदी युग की प्रमुख प्रबृत्ति कही जा सकती है। तुलनात्मक आलोचना का आरम्भ 1907 ई. में पदम्भिसिंह शर्मा ने बिहारी और सादी की तुलना द्वारा माना जाता है किन्तु महान आलोचक डॉ. रामचन्द्र तिवारी, बाबू शिवनन्दन सहाय ने सन् 1905 ई. में भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र की कविता की विस्तृत समीक्षा जो उन्होंने शेखर, पद्मकर, तुलसीदास आदि से की, को मानते हैं।

इस पद्भति में सााहित्यित प्रभाव की खोज की जाती है। तुलनात्मक आलोचना में केवल ऐतिासिक दृष्टि से ही तुलना नहीं रहती है अपितु विचारों और प्रकारों की दृष्टि से भी तुलना रहती है।
वास्तव में तुलनात्मक प्रणाली ग्रहण करने वाला आलोचक व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान देता है। इस कार्य की पूर्ति के लिए वह विभिन्न देशों और कलाओं की मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रगति का भी अवलोकन करता है। एक ही देश की विभिन्न साहित्य धाराओं का अध्ययन करना उसके लिए अभीष्ट होता है। इस सबमें—वह कोई नैसर्गिक सम्बन्ध खोजने की चेष्टा करता है। तुलनात्मक प्रणाली में सफल होने के लिए आलोचक का बहुज्ञ होना भी आवश्यक है। वह साहित्य और कला का मूल किसी रूप में स्वीकार करे किन्तु उसे यह न भूल जाना चाहिए कि उसका प्रधान कर्तव्य केवल वर्णन, विवेचन और विश्लेषण है। निर्णय देना रूस का कार्य नहीं साध ही इस बात पर ध्यान रखना भी आवश्यक है कि तुलना समान वस्तुओं की ही हो सकती है। यह बात विषय के अतिरिक्त ध्वनि, ध्येय और अभिव्यक्ति प्रणाली के सम्बन्ध में भी लागू होती है। तुलनात्मक आलोचना जब आंतरिक बातों की तुलना का प्रयास करती है तो और भी दुरुप हो जाती है। परमपरागत राजनीतिक या सामाजिक इतिहास के बदले इसमें फिर विचारों के इतिहास पर जोर दिया जाता है। तुलनात्मक आलोचना साहित्यिक अभिव्यक्ति का साधनमात्र ही नहीं, मनुष्य के भावों और विचारों का प्रतिबिम्ब या प्रतीक है, वह सामाजिक चेतना का दर्पण है। एक ही कवि के कई मन्थों के आधार पर विषय की पारस्परिक रूप में रचनाओं की तुलना हो सकती है और अन्त में एक ही भाषा के या अन्य भाषाओं के तद्विषयक कवियों और मन्थों से
तुलना अन्त में एक ही भाषा के या अन्य भाषाओं के तत्त्विकयक कवियों और ग्रन्थों से तुलना हो सकती है—विजय, भाव, भाषा शैली आदि सभी दृष्टियों से। हिंदी में देव और बिहारी की तुलना कुछ दिनों तक बड़ी धूमधाम से होती रही।

डॉ॰ रामचन्द्र तिवारी का मानना है कि—“तुलनात्मक आलोचना का आरम्भ सामान्यतः 1907 ई० में पद्मसिंह शर्मा द्वारा ‘बिहारी’ और ‘सादी’ की तुलना से माना जाता है। किन्तु यह सही नहीं है। बाबू शिवनन्द न सहाय के सन् 1905 ई० में भारतेन्दु बाबू हरिशचन्द्र की कविता की विस्तृत समीक्षा करते हुए उनकी तुलना ‘शेखर‘ पद्माकर’ तुलसीदास आदि कवियों से की है और उन्हें एक प्रकृत कवि के रूप में प्रस्तुत किया है। यह तुलना बहुत ही संयत और सारगमित है। इसलिए पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक आलोचना का पुरस्कार नहीं कहा जा सकता। यह अवश्य है कि उन्होंने तुलना को ही समीक्षा का पर्याय मान लिया और 1908 ई० से 1912 ई० तक वे ‘सरस्वती‘ में संस्कृत और हिंदी कविता के बिंब—प्रतिबिंब भाव की परीक्षा करते रहे। इसके बाद 1910 ई० में मिश्रबन्धुओं को
‘हिंदी—नवरत्न’ प्रकाशित हुआ। इसमें भी तुलनात्मक आलोचना को महत्त्व दिया गया। आगे चलकर तुलनात्मक आलोचना की धूमधाम गयी लाला भगवानदीन और कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी की विशद तुलना की तथा एक दूसरे को बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

तुलनात्मक आलोचना—पद्धति के भी अपने गुण—दोष हैं। इसमें मूल्य या स्थान निर्धारण की भावना के कारण, रूचि विशेष के अनुसरण के कारण अथवा पक्षपात की भावना से किसी भी कवि के साथ अन्याय किया जा सकता है। यह आलोचना पद्धति उसी समय श्रेष्ठता सिद्ध हो सकती है जबकि आलोचक का दृष्टिकोण पूर्ण वैज्ञानिक हो तथा वह अनासक्त भाव से दोनों पक्षों की समान भाव से विवेचना करे।

(3)

मनोवैज्ञानिक आलोचना

मनोवैज्ञानिक आलोचना का प्रारंभ सिगमंड फ्रायड के अन्तर्चेतनावादी कला—सिद्धांत से माना जाता है। फ्रायड के अनुसार, "मानव मन की अनेक वास्तव्ये धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण अन्तर्मूल में दबी रह जाती हैं। ये वास्तवाएँ अवचेतन मन में चेतन क्षेत्र में आने तथा व्यक्त होने के लिए निरस्तर
प्रयत्नशील रहती हैं। मानव का यह अवचेतन मन अधिक सक्रिय होता है। चेतन और अवचेतन के बीच मन की अर्धचेतन स्थिति भी होती है। इसी से दमित होकर वासनाएँ अवचेतन मन में प्रविष्ट होती रहती हैं। ये दमित वासनाएँ काम-मूला होती हैं। कला और साहित्य के माध्यम से इन सब वासनाओं की अभिव्यक्ति सुन्दरतम रूप से होती है। क्योंकि यहाँ इनका उदात्तीकरण हो जाता है। जब उसकी प्रेम, यश, धन, शक्ति समबंधी एसानाएँ यथार्थ जगत में पूर्ण नहीं हो पाती तो वह अपनी वासनाओं की तुष्टि कल्पनालोक में करने लगता है। इस व्याख्या के अनुसार काव्य-कला दमित काम-वासना की ही उदात्त काल्पनिक अभिव्यक्ति है। मनोवैज्ञानिक आलोचना कवि के व्यक्तिगत जीवन के अध्ययन के बल पर उन वासनाओं का विश्लेषण करती है जो कवि के मन में दमित रह गयी होती है और जिनकी अभिव्यक्ति उसकी काव्य कृतियों में होती है। फ्रायड के बाद उनके शिष्य एडलर और युंग ने उनकी मान्यताओं को व्यापक आधार देने की चेष्टा की। एडलर ने काम-भावना से अधिक महत्व अधिकार भावना को दिया। उसने अधिकार भावना को शारीरिक हीनता जनित मनोग्रस्थि से उदभूत माना और कला को इस हीनता की पूर्ति का साधन बताया। युंग (1875-1961) ने फ्रायड की 'काम-भावना' और एडलर की 'अधिकार-भावना' दोनों को ही एकांगी बताया।

एडलर ने अवचेतन मन के भी दो भेद स्वीकार किये
है—वैयक्तिक अवचेतन और सामूहिक अवचेतन। उसके अनुसार यह सामूहिक अवचेतन ही हमारी समस्त शक्तियों का अनधकारमय कोश है। इसमें हमारे पूर्वजों के लाखों वर्षों के अनुभव तथा विश्व में घटित युगों—युगों की ऐतिहासिक घटनायें पर्व—दर—पर्व संचित रहती है। यह अनुभव अभिव्यक्ति के लिए बिंबों और प्रतीकों का सहारा लेते हैं। संसार के साहित्य में ऐसे अनेक आद्य—बिंब लक्षित किये जा सकते हैं। जिनकी व्याख्या से मानव की विकास यात्रा की आदिम स्थितियाँ स्पष्ट होती हैं। डॉ. बच्चन सिंह आदि बिंब और मिथक को लगभग एक ही चीज मानते हैं। वे कहते हैं—"मिथक आदिम मनुष्य की भाषा जिसके माध्यम से वह जीवन और प्रकृति के रहस्यों के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं को अलौकिक गाथाओं के रूप में अभिव्यक्ति करता था। यह आदिम यथार्थ के प्रति सामूहिक अवचेतन मन का सहज स्पुर्ति बिम्बात्मक सृजन है।"\(^{17}\) किसी युग—विशेष, में जब व्यक्ति या समाज का चेतना दृष्टिकोण पुराना पड़ जाता है तो उसकी पूर्ति के लिए यह सामूहिक अवचेतन क्रियाशील होता है और प्रतिभावान युगदर्श्य या कवि इस सामूहिक अवचेतन से प्रेरित होकर युगदर्श्य या कवि इस सामूहिक अवचेतन से प्रेरित होकर उस नवीन युग—चेतना को लेकर सामने आता है, जिसकी आवश्यकता जन—जन को होती है। युग की मान्यता का आधार व्यापक है और इसलिए इसके द्वारा युग—विशेष की काय्य चेतना की अधिक उचित व्याख्या हो सकती है।
हिन्दी में इलाहाबाद जोशी मनोविज्ञानिक आलोचना के क्षेत्र में सर्वाधिक कियाशील आलोचक माने जा सकते हैं। 'साहित्य-सर्जना' (1940 ई०) लिखकर उन्होंने मनोविज्ञानिक आलोचना की प्रतिष्ठा की थी। उसके बाद 'विवेचना' विश्लेषणा (1954 ई०), 'देखा-परखा' (1957 ई०) आदि कृतियों में उनका मनोविज्ञानिक आलोचक निरंतर सजग रहा है। जोशी जी के अनुसार हिन्दी का भक्ति साहित्य दरिद्र काम-कुण्ठा का ही प्रतीक है। 'छायावादीकाव्य में भी उन्होंने योन-सम्बन्धी मनोवाच्य को ही रब्ब जाळ में अवगुणित शालीन स्थिति के रूप में देखा है। जोशी के चिन्तन पर फ्रायड के काम मनोविज्ञान का विशेष प्रभाव है। अन्य आलोचकों में डॉ॰ नगेन्द्र मूलतः रसवादी आलोचक है, किन्तु वे मनोविज्ञान को रसवाद का पूरक मानते हैं। अज्ञेय जी के अनुसार-"अपनी अनुपमकाव्य की अनुभूति से आहत होकर कलाकार जब विद्रोह कर देता है तो उसका यह विद्रोह ही कलात्मक सृष्टि के रूप में प्रकट होता है।"18 इस प्रकार प्रकारान्तर से 'अज्ञेय' जी कला के मूल में हीनताकी अनुभूति और उसकी पूर्ति के प्रयत्न की बात स्वीकार किया है।

"डॉ॰ देवराज उपाध्याय ने हिन्दी कथा साहित्य की मनोविज्ञानिक दृष्टि से अच्छी आलोचना की है। आपकी 'साहित्य का मनोविज्ञानिक अध्ययन' (1964 ई०) नामक महत्वपूर्ण कृति प्रकाशित हुई है।19

इस सन्दर्भ में डॉ॰ तिवारी आगे लिखते हैं कि-"इसमें संदेह नहीं की काव्य रचना एक मनोविज्ञानिक प्रक्रिया है। इसलिए उसका
मनोवैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए। पश्चिम में इस प्रकार के अध्ययन की समूह परंपरा है। मनोविश्लेषण के चलते रचनाकार की रचना प्रक्रिया का भी अध्ययन होने लगा। किन्तु इस समीक्षा पद्धति की अपनी सीमाएं हैं। मनोवैज्ञानिक आलोचना मनोविश्लेषण के सहारे कथा साहित्य में पात्रों के आचरण की व्याख्या कर सकती है, वर्णित और घटित घटनाओं के आधारभूत मनोवैज्ञानिक कारणों का अनुसंधान कर सकते हैं। रचनाकार द्वारा प्रयुक्त विशेष-प्रकार के प्रतीकों और बिंबों के भीतर छिपे अभिप्राय की व्याख्या कर सकती है, पुरुष और नारी पात्रों के आद्य पुरुष और नारी के बिंबों की झलक देख सकती है, रचनाकार द्वारा प्रयुक्त विशेष प्रकार के प्रतीकों और बिंबों के भीतर छिपे अभिप्राय की व्याख्या कर सकती है। फैंटेसी के भीतर झिलमिलाते हुए, यथार्थ का विवेचन कर सकती है। किन्तु साहित्य और कला के समग्र सौन्दर्य की व्याख्या नहीं कर सकती। अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि रचना का मनोवैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए किन्तु इसकी अपनी सीमाएं हैं जो रचना का एक पक्षीय अध्ययन करती है, बहुत से सत्य उद्घाटित होने से रह जाते हैं जो रचना में समाहित होते हैं। इसलिए यह पद्धति सिर्फ मनोवैज्ञानिक सत्यों को ही उद्घाटित कर सकती है। रस, अलंकार, छन्द, शैली काय सौन्दर्य भाषा आदि का विवेचन नहीं कर सकती है। इस सन्दर्भ में डॉ. रामचन्द्र तिवारी का मत है
किं-"कला का केवल वही पक्ष जो कलात्मक रूप-विधान की प्रक्रिया से सम्पूर्ण है मनोविज्ञान का विषय हो सकता है। जो पक्ष कला की आधारभूत प्रकृति से समबद्ध है वह संदेह मनोविज्ञान के क्षेत्र से बाहर है।" 20

(4)

प्रगतिवादी आलोचना (मार्क्सवादी आलोचना)

छायावादी कवि कल्पना-लोक में विचारण करता हुआ जीवन की यथार्थता से कुछ दूर चला गया था। वह स्वप्नलोक के मोहक सोन्दर को देख ही रहा था कि जीवन की वास्तविकता ने उसे झकझोर कर जगा दिया। सच तो यह है कि वास्तविक सत्य से कोई भी रचनाकार लम्बे समय तक अपरिचित नहीं रह सकता क्योंकि, मनुष्य के अतिष्ठ की आवश्यकता उसे लम्बे समय तक कल्पना लोक में विचारण नहीं करने देती है, क्योंकि कल्पना को भी मनुष्य के अतिष्ठ के कायम रहने पर ही विकसित होने का अवसर मिलता है। 'पन्ना' और 'निराला' जैसे समर्थ कवि सामाजिक यथार्थ के चित्रण की ओर उन्मुख हुए। 'सुमन' 'नरेन्द्र शर्मा' अंचल आदि कवियों ने उत्तर छायावाद काल से ही नवीन प्रगतिशील काव्य की रचना आरम्भ कर दी थी। इसके साथ ही आलोचना के क्षेत्र में मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचना का प्रचलन हुआ। सन् 1918 ई॰ की रूसी राज्यक्रांति के बाद कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक
कि—"कला का केवल वही पक्ष जो कलात्मक रूप—विधान की प्रक्रिया से सम्पूर्ण है मनोविज्ञान का विषय हो सकता है। जो पक्ष कला की आधारभूत प्रकृति से सम्बद्ध है वह सदैव मनोविज्ञान के क्षेत्र से बाहर है।"20

(4)

प्रगतिवादी आलोचना (मार्क्सवादी आलोचना)

छायावादी कवि कल्पना—लोक में विचरण करता हुआ जीवन की यथार्थता से कुछ दूर चला गया था। वह स्वप्नलोक के मोहक सोन्दर्य को देख ही रहा था कि जीवन की वास्तविकता ने उसे झकझोर कर जागा दिया। सच तो यह है कि वास्तविक सत्य से कोई भी रचनाकार लम्बे समय तक अपरिमित नहीं रह सकता क्योंकि, मनुष्य के अस्तित्व की आवश्यकता उसे लम्बे समय तक कल्पना लोक में विचरण नहीं करने देती है, क्योंकि कल्पना को भी मनुष्य के अस्तित्व के कायम रहने पर ही विकसित होने का अवसर मिलता है। 'फन्ट' और 'निराला' जैसे समस्त कवि सामाजिक यथार्थ के विचरण की ओर उन्मुख हुए। 'सुमन' 'नरेन्द्र शर्मा' अंबर आदि कवियों ने उत्तर छायावाद काल से ही नवीन प्रगतिशील काव्य की रचना आरम्भ कर दी थी। इसके साथ ही आलोचना के क्षेत्र में मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचना का प्रचलन हुआ। सन् 1918 ई० की रूसी राज्यक्रांति के बाद कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वितीय वर्ष
भौतिकवाद और वर्ग संघर्ष साहित्य के मूल्यांकन का आधार निश्चय हुए और उसका आधार बना। कार्लमार्क्स प्रतिपादित द्वितात्मक भौतिक वाद से सम्बन्ध होने के कारण यह आलोचना—प्रणाली भौतिकवादी आलोचना के नाम से अभिहित की जाती है। इस मार्क्सवादी आलोचना को प्रगतिवादी आलोचना भी कहते हैं।

डॉ॰ रामदरस मिश्र ने मार्क्सवादी आलोचना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है। कि—“मार्क्सवादी जीवन शक्तियों के आधार पर कलाकृति की श्रेणिता स्वीकार करता है। उससे स्पष्ट है कि उसके मूल्यांकन का आधार बौद्धिक है। पर यह मान लेना कि मार्क्सवादी आलोचना कला में भाव तत्त्व की आवश्यकता नहीं समझती अथवा उसको गौण महत्त्व देती है, इस आलोचना के वास्तविक स्वरूप को न समझा मात्र है कला का प्रभाव बुद्धि पर ही नहीं अपितु हृदय पर भी पड़ता है। भाव, शैली और संबंधन की सजीवता के कारण कला कृति अपेक्षाकृत कम गम्भीर और उलझे हुए बुद्धि तत्त्व के साथ भी संबंधन कर सके प्रोड बुद्धि तत्त्व वाली कला कृति से कहीं उत्कृष्ट मानी जायेगी।

इस आलोचना—पद्धति में साहित्य को वर्ग की उपज मानकर सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे उसका मूल्यांकन किया जाता है। उसने वर्ग—संघर्ष के आदर और विचारधाराओं को महत्त्व दिया जाता है। यह आलोचना अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होती है। किन्तु
सामाजिक आलोचक राजनीति के दर्पण में ही कृति को देखते हैं।
अतः साहित्य की उपेक्षा हो जाती है। लेकिन इस आलोचना से एक लाभ यह है कि—“जनजीवन से दूर रह कर मानमाने ढंग से साहित्य—सृजन करने वाले लेखक और कवियों की ऊल—जलूल, आड़म्बरपूर्ण शोधी रचनाओं के प्रति जनता में प्रगतिवादी समीक्षक मार्क्सवादी सिद्धांतों को साहित्यिक कृतियों पर लागू करता है। इस प्रकार की पद्धति पहले रूस में चली, कालान्तर में ऐसे समीक्षकों का दल प्रायः सभी विकसनशील अथवा विकसित देशों में हो गया। इस प्रकार के समीक्षकों के उपचार को उपयोगीता वादी दृष्टिकोण से देखा और परखा है। काद्वेल के अनुसार साहित्य का वार्तविक महत्व उसकी आर्थिक उपयोगिता में है। अमूर्तराय के शब्दों में—“मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाजवादी आलोचना है जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील पक्ष के सम्बन्ध का उद्धारण करती है।”

प्रगतिवादी समीक्षकों को दो कोटियों में बीता जा सकता है—पहले वे हैं, जो सीधे मार्क्सवादी सिद्धांतों का अनुसरण करते हैं। दूसरे उनकी संगति भारतीय संस्कृति से बेड़ाते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, डॉ० नामवर सिंह आदि ऐसे ही समीक्षक हैं। तैरी इग्लिटन जैसे आलोचक का मानना है कि—“मार्क्सवादी आलोचना का उद्देश्य साहित्य कृति की अधिक पूर्णता के साथ
(1) मार्क्सवादी आलोचक काव्य के उपयोगितावादी पक्ष का उद्घाटन करता है।

(2) काव्य की प्रेषणीयता का इस आलोचना में विशेष महत्व है।

(3) मार्क्सवादी आलोचक ढोंस धरातल पर रहता है अतः उसमें चमतकार और प्रदर्शन का भाव नहीं रहता है। वह भौतिक यथार्थवादी दृष्टिकोण लेकर चलता है। अतः वह कभी—कभी
मार्क्सवाद का प्रचारक भी बन जाता है।

(4) मार्क्सवादी आलोचक जनवादी और समाजोपयोगी रचना को महत्व देता है।

(5) इस आलोचना पद्धति से नवयुगकों में क्रांति की भावना ज्यादा तर होती है। इसमें साहित्य और समाज का सम्बन्ध स्पष्ट किया जाता है अतः साहित्य में जो काल्पनिकता, पलायनवादिता और प्रगतिवादी विचार धाराएँ पल्लबित हो रही थी, उनको आधार लगाता है। इस आलोचना–पद्धति के अतिरिक्त हिंदी साहित्य में शुक्ल पद्धति, सौंदर्यवादी या स्वच्छन्दतावादी आदि पद्धतियों का विकास हुआ है। निरंतर एक विशाल आलोचना–साहित्य का निर्माण हो रहा है। और हिंदी आलोचना शास्त्र अपने चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ रहा है।
1. आलोचक का दायित्व, डॉ० रमचंद्र तिवारी, पृष्ठ, 12

2. पाश्चात्य काव्यास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ, 205

3. वहीं, पृष्ठ, 205

4. Practical Criticism, I.A. Richards, P-3 Introduction

5. “It serves, Therefore, as an eminently suitable bait for any one who wishes to help the current ..................................The Natural History of Human opinion and failiass. ........”

Practical Criticism- I.A. Richards-P-6

6. There has hardly ever Been acritical rule, pincipleor Mocin which has not Been for wisemsn a helpful guide, but for Forels a will-o the wisp7 I.

a. Richards

7. पाश्चात्य काव्यास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ, 208

8. वहीं, पृष्ठ, 209

9. वहीं, पृष्ठ, 210
10. व्याख्यातीक समीक्षा..............................

11. पाश्चात्य काव्यास्त्र, डॉ॰ भगीरथ मिश्र, पृष्ठ, 211

12. But those in direct devicea for expressing feeling through logicsl non-sense, through, statements not to be tabened strictly, literally or seriously, through pre-eminentely apparent in poetry on not peculion to it. Practical Criticism] P, 188

13 Practical Criticism, Rechards, P. 194

14. हिंदी आलोचना शिखरों का साक्षात्कार, डॉ॰ रामचन्द्र तिवारी,
    पृष्ठ, 12

15. वहीं, पृष्ठ, 19

16. वहीं, पृष्ठ, 11

17. आधुनिक हिंदी आलोचना के बीच, डॉ॰ वच्चन सिंह, पृष्ठ, 77

18. 'कला का र्वभाव' और उदेश्य, निबन्ध 'तिरंंकु' अड़ोय,

19 हिंदी आलोचना—शिखरों का साक्षात्कार, डॉ॰ रामचन्द्र तिवारी,
    पृष्ठ, 18

20. वहीं, पृष्ठ, 18

21. साहित्य का समाजशास्त्र, डॉ॰ नागेन्द्र, पृष्ठ, 41